



अस्मितावादी विमर्श के दौर में संत साहित्य का पाठ: प्रमुख संदर्भ और आयाम

डॉ. रिम्पी खिल्लन सिंह, अस्स्टेंट प्रोफेसर
इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यालय, सिविल लाइन्स
दिल्ली 110054

आज का दौर अस्मितावादी विमर्श का दौर है जहाँ अस्मिताओं के उभार के साथ-साथ टकराहट की अनुगूँजें चारों तरफ सुनाई पड़ती हैं। अस्मिता का प्रश्न पहचान का प्रश्न है और यह पहचान अनेक अस्मितांशों से निर्मित होती है जिसमें जाति, वर्ग, समुदाय, राष्ट्र, सभी कुछ शामिल है। अस्मिता अपने लिए संकोच के दायरे का चुनाव भी कर सकती है और विस्तार के दायरे का भी। दरअसल अस्मितावादी विमर्श आधुनिकता की ही देन है। मध्यकाल में अस्मिता की बात नहीं होती थी क्योंकि मध्यकाल समर्पण का काल है। ईश्वर के प्रति समर्पण का नाम ही भक्ति है और भक्ति में अहं की कोई भूमिका नहीं होती। मध्यकाल पूरी तरह से आस्था और स्वयं को समर्पित कर देने का ही काल है। यहाँ अस्मिता की कोई छटपटाहट दिखाई नहीं देती। भारतीय समाज में जातिव्यवस्था और वर्णव्यवस्था बहुत पहले से ही चली आ रही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार “यहाँ छोटी से छोटी जाति भी अपने से छोटी जाति ढूँढकर निकाल लेती है।”¹ संत साहित्य का संपूर्ण आधार ही जातिव्यवस्था को खारिज करने का रहा है। फिर, बुनियादी प्रश्न यह उठता है कि क्या कबीर का जो साहित्य लेखन है, वह उनकी जाति को केंद्र में रखकर हुआ है। अगर ऐसा होता तो उनकी कविता केवल और केवल जुलाहों के लिए रची गयी होती परंतु ऐसा नहीं है। कबीर की कविता जाति और समुदाय के इन बने बनावे ढाँचों को नहीं मानती और जाति प्रथा पर ही प्रश्न चिह्न लगाती है परंतु इधर दलित विमर्श में कबीर को दलित अस्मिता के साथ जोड़कर पढ़ा और पढ़ाया जाने लगा है। यह किसी भी अस्मितावादी विमर्श का एक महत्वपूर्ण पहलू है कि वह हर उस चीज को अपने दायरे में लाना चाहता है जिससे उसका विमर्श पुख्ता होता हो क्योंकि कोई भी अस्मितावादी विमर्श अंततः एक राजनीतिक विमर्श होता है। ऐसा करना उस दृष्टि से सही भी है परंतु इससे बहुत बार उस कविता या कवि के बुनियादी चरित्र के किसी एक आयाम को इतना उभार दिया जाता है कि दूसरे आयाम छूटने लगते हैं।

पुरुषोत्तम अग्रवाल अपने एक लेख में लिखते हैं कि “कबीर जब स्वयं को न हिंदू न मुसलमान कहते हैं, तो उनकी कविता से यह अर्थ कहीं नहीं निकलता कि उन्हें दलितों के अपने धर्म की स्थापना की उत्सुकता हो रही थी। उनकी कविता तो ऐसी संभावना की ओर संकेत करती है, जहाँ हर व्यक्ति अपने विशिष्ट आध्यात्मिक अनुभव की अभिकल्पना कर सके- संगठित धर्म की शरण में जाने को विवश हुए बगैर उनकी कविता में सामाजिक-आध्यात्मिक एक दूसरे के विपरीत न होकर, परस्पर समृद्धिकारी पूरक हैं।”² यह अपने आप में एक



महत्त्वपूर्ण बात है कि अधिकतर समाज में आध्यात्मिकता को एक अलग और अनोखी ही चीज मान लिया जाता है परंतु कबीर की कविता उसी आध्यात्मिकता को सामाजिक चिंतन और सोच का मुख्य आधार बनाती है। कबीर जुलाहे थे और वे अपनी इस अस्मिता से कभी भागे नहीं जैसा कि पुरुषोत्तम अग्रवाल उसी लेख में लिखते हैं- “जहाँ कबीर एक ओर कहीं भी अपनी जुलाहा अस्मिता से पलायन नहीं करते, वहाँ उनकी कविता भी यह आभास नहीं देती कि वह केवल जुलाहों के लिए रची गई कविता है। कबीर जिस श्रोता को संबोधित करते हैं, वह अपनी जाति से नहीं अपितु स्वभाव से पहचाना जाता है। कबीर के यहाँ ‘हरिजन’ अनुसूचित जाति का पर्यायवाची नहीं अपितु उनके जैसा ही भक्त है।”³

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि संत कवि अपनी जाति, लिंग और समुदाय से आगे निकल जाते हैं और एक ऐसे समाज की बात करते हैं जहाँ समर्पण ही धर्म है जो कि ‘अस्मितावाद’ के ठीक उलट है। यहाँ जातिव्यवस्था का संपूर्ण नकार है। संत साहित्य से जुड़े बहुत सारे कवि पिछड़ी जातियों और कामगार वर्ग से आते हैं। इसलिए प्रसिद्ध इतिहासकार इरफान हबीब का मानना है कि “दिल्ली सल्तनत के कारण जब बड़े पैमाने पर सड़क और भवन निर्माण कार्य आरंभ हुआ तो निम्न वर्गों की स्थिति में अचानक सुधार हुआ जिससे उनके अंदर सामाजिक प्रतिष्ठा की भूख जागी। इस नयी परिस्थिति ने निर्गुण साहित्य को जन्म दिया।”⁴ इरफान हबीब संत साहित्य की उत्पत्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा की भूख के साथ जोड़ते हैं परंतु संत साहित्य की कविताओं को पढ़कर बहुत हद तक नहीं लगता कि इनमें सामाजिक प्रतिष्ठा की भूख है। वे सब आत्मसम्मान से जीने की बात करते हैं परंतु किसी भी भेदभाव के बगैर वह मानव मात्र के लिए ही ऐसी कामना करते हैं। वे मन, वाणी और कर्म से अपने निर्गुण राम के सुमिरन और भजन की बात करते हैं इसलिए अहं का त्याग और आत्मसमर्पण उनकी कविता की प्रमुख विशेषताएं हैं। वे लिखते हैं-

“हरि भगति जाने बिना बूडि मुआ संसार।”⁵ वे अभिमान न करने की बात करते हैं, अहं न करने की बात करते हैं-

“मन रे तन कागद का पुतला

लागै बूँद बिनस जई छन में

गर्व करे का इतना।”⁶

यह ठीक है कि रैदास का उद्देश्य कविता लिखना नहीं था, परंतु उनका उद्देश्य किसी एक वर्ग का मसीहा बनना भी नहीं था। वे समाज की विसंगतियों को देखकर दुःखी होते थे और ईश्वर को एकमात्र साध्य मानते हुए एक ऐसे समाज की सोच रखते थे, जिसमें व्यक्ति मुक्त हो सके। इसी तरह संत साहित्य के ही महत्त्वपूर्ण कवि रैदास चर्मकार थे। वे भी पिछड़ी जाति के थे, परंतु उनकी भक्त परंपरा में भी प्रत्येक जाति का व्यक्ति शामिल हुआ। कहा जाता है कि मीराबाई और झाली रानी भी उनकी शिष्या थी। इस प्रकार उन्होंने स्त्रियों को भी अपना शिष्य बनाया। वे लिखते हैं-



“वर्णाश्रम अभिमान तजि, पद रज बंद हिजासु की।

संदेह ग्रंथि खंडन-निपन, बनि विमुल रैदास की।”⁷

यहाँ भी वे आचरण की शुद्धता और अभिमान का त्याग करने की बात करते हैं। उन्होंने भी जातिप्रथा का खंडन किया-

“जाति-जाति में जाति है, जो केतन के पात।

रैदास मनुष न जुड सके जब तक जाति न जात।”⁷

वे मनुष्य मात्र को जोड़ने की बात करते हैं। हालांकि बाद में लोगों ने उनके नाम का पंथ चलाया और सिक्खों के एक समुदाय ने उन्हें अपना गुरु माना परंतु रैदास ने अपने जीते जी ऐसे किसी अलग पंथ की कामना नहीं की। भक्तिकाल के पथ प्रदर्शकों ने अपने समय में सभी सामाजिक वर्गों के सामने सवाल खड़े किये-

“दादू सो मोमिन मोम दिल होई

साई कुं पहचाने सोई

जोर न करे हराम न खाई

सो सोमिन भिस्ति में जाई।”⁸

इस प्रकार दादू, कबीर, रैदास, पीपा इत्यादि सभी अलग-अलग जातियों और समुदायों से आते थे। इस समय मीरा भी लिख रही थीं। वे एक स्त्री होकर भी अपने मन की अभिव्यक्ति करती हैं और लोक-लाज जैसे सांसारिक प्रतिमान को मानने से इंकार कर देती हैं-

“संतन संग ढींग बैठि-बैठि लोक लाज खोई

असुंअन जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोयी।”⁹

मीरा को भी बाद में स्त्री अस्मिता विमर्श के साथ जोड़ा गया। मीरा के पद कृष्ण को पाने के लिये सब कुछ को समर्पित करने वाले पद हैं। ‘लोक-लाज’ स्त्री के लिये बड़ा सामाजिक बंधन है, जिसे मीरा तोड़ती हैं परंतु ऐसा वह स्त्री सशक्तीकरण के लिये नहीं करती या कोई राजनीतिक शक्ति या अस्मिता अर्पित करने के लिये नहीं करती अपितु कृष्ण के प्रति अपने समर्पण के लिये करती हैं। जहाँ समर्पण है वहाँ अहं नहीं हो सकता। मीरा की कविता में यदि स्त्री मुक्ति का भाव तलाशती है तो कुछ गलत नहीं है परंतु यदि केवल इसे स्त्री विमर्श के दायरे में पढ़ना शुरू कर दिया जाये तो कठिनाई अवश्य होगी। आज हम विमर्शों के समय में हैं, विशेष रूप से अस्मितावादी विमर्श, और बहुत सारे आलोचक इन संतों को अस्मितावादी विमर्श के दायरे में लाकर पढ़ने और पढ़ाने पर बल देते हैं, जिसमें जाति, लिंग, वर्ण इत्यादि अस्मितांश महत्वपूर्ण होते हैं और सत्ता अर्जित करना जिनका उद्देश्य होता है जबकि इन संत कवियों ने जाति, लिंग और वर्ण के बने बनाये खाँचों और ढाँचों को तोड़ने की कोशिश की क्योंकि भक्ति इनका साध्य था। इसलिये ये भक्त कहलाए। भक्ति कर्मकांडों का विरोध करती है और संतकाव्य विशेष रूप से इसे नहीं मानता। इस शोध-पत्र में यह प्रश्न भी रखना आवश्यक है कि ‘क्या अस्मितावादी पैमाना



इन संत कवियों को समझने में बाधा उत्पन्न करता है या इससे कोई सुविधा होती है। यह अपने आप में एक जटिल प्रश्न है। इस विषय में पुरुषोत्तम अग्रवाल एक गंभीर प्रश्न उठाते हैं- “संसार भर में अब तक हाशिए पर रही सामाजिक अस्मिताओं का आत्मरेखांकन हमारे समय की महत्वपूर्ण और स्वागत योग्य घटना है। आत्मरेखांकन एक ओर राष्ट्र, समाज और विकास की प्रदत्त अवधारणाओं से जिरह कर रहा है, दूसरी ओर इस जिरह के अपने सवाल भी उठ रहे हैं कि विभिन्न अस्मिताओं का आत्मरेखांकन समेकित रूप में सामाजिक सत्ता तंत्र के वैकल्पिक स्वरूप की कल्पना कर पायेगा या इसकी संभावनाएँ वर्तमान तंत्र द्वारा ही सोख ली जायेंगी।”¹⁰ संपूर्ण अस्मितावादी विमर्श अपने केंद्र के चुनाव के आधार पर व्यापक ही हो सकता है और संकुचित भी हो सकता है। ‘अस्मिता का प्रश्न आवश्यक है। समस्या इस बात में नहीं है कि ‘अस्मिता’ पर आज हर जगह बात हो रही है। समस्या यह है कि ‘अस्मिता’ का प्रश्न किस केंद्र को चुनता है- व्यापकता के या संकोच के। बहरहाल इस शोध पत्र में इन जटिल प्रश्नों से जूझते हुए यह लगता है कि संत साहित्य को केवल और केवल अस्मितावादी विमर्श के दायरे में लाकर पढ़ने से उसका संपूर्ण सत्व ही नष्ट हो जायेगा। संत कवियों को केवल किसी अस्मिता विशेष का प्रतीक बना देना उनके लेखन के साथ न केवल अन्याय करना है अपितु किसी धर्म या समुदाय विशेष के साथ जोड़ने का अर्थ है कि उनके उस मंतव्य को ही धुंधला कर देना जिसे वे अर्जित करना चाहते थे। कबीर जिन ऊँचाईयों पर पहुँचे वहाँ किसी एक धर्म के प्रति समर्पित या एक समुदाय के प्रति समर्पित व्यक्ति नहीं पहुँच सकता। उनकी दृष्टि कहीं भी इस रूप में संकीर्णतावादी नहीं रही इसलिये लिखते हैं-

“मो को कहाँ ढूँढे रे बंदे मैं तो तेरे पास मैं

न मैं मस्जिद न मैं देवल, न काबे कैलास में।”¹¹

संत कविता में ही नानक भी लिख रहे थे। गुरु नानक ने सजग रूप से अपने-अपने स्वायत्त पंथ और संगठन स्थापित किये थे परंतु कबीर के यहाँ विशेष रूप में यह प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती। अधिकतर संत कवि ईश्वर के प्रति सहज प्रेम में रत दिखाई देते हैं। यह सहज प्रेम किसी संकीर्णता को नहीं मानता। ‘हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास’ में रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं- “कबीर बड़े कवि वहाँ हैं जहाँ वे अपने ही अंतर्जगत का वैविध्य संधान करते हैं और उसी में जीवन की विरासत सिरजते हैं।... पूरब में भोजपुरी से लेकर पश्चिम में राजस्थान तक उनका भाषिक-संवेदनात्मक विस्तार है। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, उन्हें सुनी-सुनाई बातों का ज्ञान था, वे मूलतः समाज-सुधारक थे- ऐसी उक्तियाँ कबीर के मूल्यांकन और विवेचन में अप्रासंगिक बिंदु हैं।”¹² स्पष्टतः रामस्वरूप चतुर्वेदी ‘कबीर’ को केवल एक समाज-सुधारक नहीं मानना चाहते हैं। वे एक व्यापक संवेदना के कवि थे। वे लोक के कवि थे और बाद में बुद्धिजीवियों के मन में भी उतने ही गहरे उतरे। वे अपने मन की विरोधी अंतर्दशाओं को सहज ही अभिव्यक्त करते हैं। यदि रहीम की बात करें तो मुसलमान और सत्ता तथा शासन के अंग होते हुए भी वे हिंदू देवी-देवताओं के गीत गाते हैं। वे भी जीवन की विविधता के कवि हैं। वे नीति की बात करते हैं और मानव जीवन के नीतियों में गहनता से पिरोते हैं-

“रहिमन देख बडेन को, लघु न दीजिए डारि।

जहाँ काम आवै सुई, कहाँ करै तरवारि।”¹³

रहीम, कबीर और अन्य संत कवि व्यक्तित्व की मानवीय विशेषताओं और मानवीय मूल्यों को महत्व देते हैं। उनका व्यक्तित्व किसी के विरोध में नहीं अपितु मानवीय मूल्यों की सघनता के साथ विकसित होता है और वे समाज में ऐसे ही व्यक्तित्व की आवश्यकता को रेखांकित भी करते हैं। कबीर के यहाँ जो लोग कबीर की कविता को या अन्य संत कवियों की कविता को केवल और केवल ब्राह्मणवाद के विरोध में रची गई मानते हैं वे भूल जाते हैं कि ‘ब्राह्मणवाद’ और ‘दलितवाद’ एक समय के बाद सत्ता अर्जित करते ही स्वयं वर्चस्वकारी वाद बन जाते हैं और शोषण की ओर अग्रसर होने लगते हैं। इसलिए कबीर स्वयं को अलग रखते हैं-

“हिंदू राम-राम करै

जोगी गोरख-गोरख उच्चरै

मुसलमान का एक खुदाई

कबीर का स्वामी रहा सहाई।”¹⁴

डॉ. धर्मवीर, जो कि प्रसिद्ध दलित विमर्श आलोचक रहे हैं वे लिखते हैं “इस देश का दुर्भाग्य यह रहा है कि यहाँ कभी दलित की अलग और स्वतंत्र पहचान नहीं बनने दी गई। इस दृष्टि से आगे बढ़ने से पता चलता है कि दलित को सबसे पहला धोखा और नुकसान बुद्ध के धर्म की स्थापना के रूप में हुआ था। बुद्ध के समय में पृथक धर्म की सबसे ज्यादा जरूरत दलित को थी लेकिन उसका नेतृत्व बुद्ध उड़ा कर ले गए। बुद्ध के बाद पता चलता है कि दलितों को कबीर और रैदास के समय में यह जरूरत फिर जोरों से महसूस हुई थी। ‘रैदास और कबीर’ के न हिंदू न मुसलमान कहने का मतलब यही था कि वे पृथक दलित धर्म के हिमायती और संस्थापक थे। लेकिन अकबर के रूप में एक बादशाह ने ‘दीन-ए-दलाही’ का धर्म खड़ा कर के उस धर्म को हड़पना चाहा जो अंत में सिख धर्म के द्वारा निगल लिया गया।”¹⁵ एक तरह से धर्मवीर जो ब्राह्मणवादी धर्म और कर्मकांड का विरोध कर रहे हैं उसी की तर्ज पर अस्मिता स्थापित करना चाहते हैं। अस्मिता विमर्श आधुनिक युग का बड़ा और जटिल विमर्श है। इसे पढ़ते हुए एक प्रकार की सजगता और सावधानी की भी आवश्यकता है। इस संदर्भ में पाओलो फ्रेरे की पुस्तक ‘उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र’ अत्यंत महत्वपूर्ण है जिसमें वे लिखते हैं- “उसकी (उत्पीड़ित की) समस्त ऊर्जा स्वयं उत्पीड़क बनने में नष्ट हो जाती है और लोग नये मनुष्य को इस रूप में नहीं देख पाते कि वह उत्पीड़न से मुक्त होने की प्रक्रिया में इस अंतर्विरोध का समाधान करने से पैदा होगा। उनके लिये नये मनुष्य का अर्थ है स्वयं उत्पीड़क बन जाना”¹⁶ इस प्रकार यह समझ आता है कि संतकाव्य सामाजिक अस्मिता के प्रति सजगता की बात तो करता है परंतु उनकी सामाजिक अस्मिता किसी दूसरे की अस्मिता का विरोध नहीं करती अपितु वह अस्मिता के संकीर्णतावादी ढाँचे को ही तोड़ती है। वे किसी रक्ताधारित प्रतिशोध की बात नहीं करती अपितु किसी भी तरह के अन्याय का विरोध करती है और अस्मिता में अहं की अपेक्षा व्यक्ति के सहज मानवीय



मूल्यों पर बल देती है क्योंकि वह व्यवहारिक-आध्यात्मिक, धर्म-समुदाय, अपने-पराये से ऊपर उठी कविता है और किसी भी ढाँचे को तोड़कर मानवतावादी धरातल को महत्वपूर्ण मानती है। इसलिये संत काव्य को केवल अस्मितावादी विमर्श के संकीर्ण दायरे में न रखकर उसके व्यापक मानवतावादी रूप के साथ ही ग्रहण करना चाहिए।

संत साहित्य वस्तुतः विविध जीवनानुभूतियों का काव्य है। यह काव्य लोक से अपनी शक्ति और सामर्थ्य अर्जित करता है। यह रूढ़ियों की समस्त परिधियों को तोड़ता हुआ आगे बढ़ता है और ईश्वर को अनुभूतिजन्य ज्ञान से प्राप्त करता है। यह भौतिक इच्छाओं और तृष्णाओं से दूर रहने की बात करता है। उनकी कविता में दयालुता, मानवता और मानव मात्र के प्रति करुणा दिखाई देती है। यह किसी भी तरह की विवेकहीनता का विरोध करता है। जन्म के आधार पर यह मानव की कोटियाँ निर्धारित करने की किसी भी प्रणाली का विरोध करने वाली कविता है। संतों का बलाघात मन के नियंत्रण पर है। संयम एवं मानसिक नियंत्रण ही साधना को अर्थवत्ता प्रदान कर सकते हैं। इसलिए इन कवियों ने बार-बार मन को साधने की बात कही है। संत करनी और कथनी दोनों में समानता लाने की बात करते हैं। इसलिए संतकाव्य हिंदी काव्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यह मानवीय मूल्यों और विवेक का काव्य है। इसलिए अपने युग के यथार्थ और विसंगतियों को सहज रूप से उभारने के साथ-साथ अध्यात्म के उत्कर्ष और चरित्र के उत्थान का स्वर इसमें गहनता से अभिव्यक्त हुआ। इसे किसी एक विमर्श के चौखटे में कैद करने का अर्थ है इस कविता के उद्देश्य को ही नकार देना। इसलिए संतकाव्य के पाठ में समकालीन संदर्भों और विमर्शों को जोड़ते हुए भी आलोचक को यह नहीं भूलना चाहिए कि संतकाव्य किसी एक विमर्श की चौहद्दी में नहीं अंट सकता अपितु यह मानवीय अनुभवों की व्यापकता और गहनता का काव्य है और इसके भीतर जीवन और समाज के अनेक पक्ष अभिव्यक्त हुए हैं। भाषा, संवेदना और विचार सभी दृष्टियों से यह कविता लोक की अनुभूतियों को व्यंजित करती है। लोक संस्कृति और लोकभाषा का पक्ष इसमें उजागर हुआ है। यह कविता 'भाखा बहता नीर' के पक्ष की कविता है और इसलिए कई लोक भाषाओं और बोलियों को भी समेटे हुए है। कुल मिलाकर इस काव्य को पढ़ने का व्यापक संदर्भ और सरोकार तभी जीवित रह सकता है जब इसे किसी भी संकीर्ण ढाँचे में डालने का आग्रह न किया जाये।



संदर्भ:

1. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ- 16
2. जात ही पूछो साधु की --- अस्मितावादी अतिचार के सामने कबीर की कविता, बहुवचन पत्रिका, वर्ष 2, अंक 6 जनवरी-मार्च 2001, पृ- 318
3. वही, पृ- 312
4. दि हिस्टॉरिकल बैकग्राउंड आफ दी पापुलर मोनोथियोस्टिक मूवमेंट इन फिफ्थ-सिक्सटीथ सेंचुरीज 1965, पृ- 52
5. रैदास के पद, गुरुग्रंथ साहिब में संकलित
6. वही
7. वही
8. दादूदयाल ग्रंथावली, पद क्रमांक 28, पृ- 15
9. मीराबाई की पदावली (सं) परशुराम चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य सम्मेलन
10. जात ही पूछो साधु की-----अस्मितावादी अतिचार के सामने कबीर की कविता, बहुवचन पत्रिका, वर्ष 2, अंक 6, पृ- 316
11. कबीर का पद, हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संकलित कबीर वाणी से।
12. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ- 40
13. रहीम का पद, रहीमन विलास (सं-) ब्रजरत्नदास, रामनारायण लाल, इलाहाबाद 1948
14. कबीर का पद, कबीर ग्रंथावली सं- पारसनाथ तिवारी, हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय 1961
15. कबीर: बाज भी, कपौत भी, पपीहा भी, पृ- 17, डॉ- धर्मवीर
16. उत्पीडितों का शिक्षा शास्त्र, पाओलो फ्रेरे (अनुवाद-रमेश उपाध्याय), पृ- 9